अध्याय -- ४

-०-

सन्तों द्वारा भक्ति-प्रतिपादन

कबीर

नानक

दादू

सुन्दरदास

(क) परम्परा

(ख) प्रयोग -- (रहस्यवाद)

अध्याय-- ४

-०-

सन्तों द्वारा भक्ति-प्रतिपादन

सन्त कबीर

'कबीर हरि की भगति करि, तजि विषया रस चौज ।
बार बार नहीं पाइए, मनिषा जन्म की मौज ।।'[१]

सन्त कबीर मानव-जीवन को एक ईश्वर प्रदत्त अवसर मानते हैं । इसमें यदि वह चाहे तो भव-बन्धन से मुक्त हो सकता है, जिसका एकमात्र साधन है -- 'हरि-भक्ति' । इसीलिए वे हरि-भक्ति का बार-बार उपदेश देते हैं । उनका ईश्वर एक, निराकार और निर्विकार है, वह अजन्मा है, अरूप है । उसे मूर्ति और अवतार में सीमित करना उस ब्रह्म की सर्वव्यापकता पर प्रश्न-चिन्ह लगाना है । किन्तु ऐसे अवसर की, जो अरूप और निर्गुण है, भक्ति कैसे हो सकती है ? भक्ति तो व्यक्तित्व की अपेक्षा रखती है । वह साकार की भावना चाहती है, किन्तु कबीर का ब्रह्म तो निराकार है । अद्वैतवाद के निराकार ब्रह्म के प्रति भक्ति की सम्भावना कैसे हो सकती है? किन्तु कबीर को तो जनता में इस निराकार, सर्वव्यापी अनन्त ब्रह्म का उपदेश करना था, लोगों के मन में उसके प्रति अनुरक्ति और भक्ति जागरित करनी थी । इस कठिनाई को किस प्रकार हल किया जाय । कबीर ने इसके लिए प्रतीकों का--जीवनगत सम्बन्धों के प्रतीकों का आश्रय लिया । वे कर्मकाण्ड में विश्वास तो रखते नहीं थे, अत: मूर्ति और अवतार

१- कबीर ग्रन्थावली, पृ० २४-२५

के लिए उनके हृदय में कोई आस्था नहीं थी । उन्होंने अपने ब्रह्म से मानसिक सम्बन्ध जोड़ा और ब्रह्म को अनेक प्रकार से अपने समीप लाने की विधि सोची । उन्होंने ब्रह्म को गुरु, राजा, पिता, माता, स्वामी मित्र और पति के रूप में मानने की शैली अपनाई[१]।

गुरु रूप में ब्रह्म

'गुरु गोविन्द तो एक है, दूजा यहु आकार ।
आपा मेटि जीवत मरै, तो पावै करतार ।।'[२]

राजा के रूप में ब्रह्म

राजा राम तू ऐसा निरभउ,
तरन तारन राम राइआ ।[३]

अथवा

'कोऊ हरि समानि नहीं रे राजा ।
ए भूपति सभ दिवस चारि के झूठे करत दिवाजा ।
तेरो जनु होइ सोइ कत डोलै तीन भवन पर छाजा ।
हाथ पसारि सकै को जन कउ बोलि सकै न अंदाजा ।।'[४]

पिता के रूप में ब्रह्म

हउ प्रभु तेरा तूं बापु मेरा ।
सके ठाहर दुहा बसेरा ।।[५]

जननी के रूप में ब्रह्म

हरि जननी मैं बालिक तोरा ।
काहे न औगुन बकसहु मोरा ।।[६]

१- डा०रामकुमार वर्मा --संतकाव्य(निबन्ध),हिन्दी साहित्य,भाग२,पृ०२१३
२- कबीर ग्रन्थावली,पृ०३
३- डा० रामकुमार वर्मा--संतकबीर--राग गउड़ी,पृ०७५
४- सन्त कबीर --राग विलावलु,पृ०१५६
५- ,, --(पंचम संस्करण)--रागु आशा,पृ०६३
६- क०ग्रं०,, पृ०१२३

स्वामी रूप में ब्रह्म

कबीर प्रेम न चाखिया, चखि न लीया साव ।
सूने घर का पाहुणा , ज्यूं आया त्यूं जाव ।। [१]

मित्र रूप में ब्रह्म

देखो कर्म कबीर का, कछु पूरब जनम का लेख ।
जाका महल न मुनि लहै, दोसत (दोस्त) किया अलेख [२] ।।

पति रूप में ब्रह्म

हरि मोरा पीव माई हरि मेरा पीव ।
हरि बिन रहि न सकै मेरा जीव ।।
हरि मेरा पीव मैं हरि की बहुरिया ।
राम बड़े मैं छुटक लहुरिया ।। [३]

कबीर ने इन प्रतीकों में प्रेम को ही विशेष महत्व दिया है, पति या प्रियतम को प्रधान माना है । प्रेम ही कबीर की साधना का प्रमुख अंग है । यह प्रेम जहाँ एक ओर विशिष्टाद्वैत की भक्ति का प्राण है, वहाँ दूसरी ओर यह सूफी मत के इश्क का रूपान्तर मात्र है । कबीर ने कहा है --

हरि रस पीया जाणिइ, जे कबहुं न जाय खुमार ।
मैमंता घूमत फिरै, नाहीं तन की सार ।। [४]

कबीरदास ने भक्ति के बाह्य रूप को स्वीकार नहीं किया । उनकी भक्ति एकमात्र मानसिक भक्ति है । इसीलिए उन्होंने वैष्णवों को कर्मकाण्ड-

---

१- क० ग्रं० , पृ० ६
२- ,, पृ०७
३- ,, पृ०१२५
४- ,, पृ०१६

सम्मत नवधा भक्ति के पाद-सेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य और सख्य भक्ति के रूपों को ग्रहण नहीं किया है । यदि कहीं इनका संकेत भी हुआ है तो केवल प्रतीकात्मक रूप में। 'कबीर' की भक्ति में केवल श्रवण, कीर्तन, स्मरण और आत्म निवेदन है[१] । जिनका सम्बन्ध एकमात्र मानसिक पक्ष से है ।

श्रवण भक्ति

राम का गुणगान सुनकर साधक आत्मविभोर हो उठता है, भक्ति में डूब उठता है । यहाँ तक कि राम का भजन सुनते ही साधक मृग की भाँति अपने तन-मन की सुधि भुला देता है ।

ऐसा कोई नां मिले रांम भजन का मीत ।
तन मन सौंपै मृग ज्यूं सुनै बधिक का गीत ।।[२]

गुण कीर्तन

कीर्तन के लिए कोई समय का बन्धन नहीं है । साधक दिन-रात हरि-गुण कीर्तन में व्यस्त रहता है-- इस आशा में कि कभी वह उसकी पुकार सुनले--

कैसौ कहि कहि कूकिये, नां सोइए असरार ।
राति दिवस के कूंकयौ(मत), कबहूं लगै पुकार ।।[३]

कबीरदास परमात्मा के गुणों में 'अमृतत्व' बतलाकर, गुण-कीर्तन द्वारा उन्हें रिझाने का प्रयत्न किया है ।

'कबीर रांम रिझाइ ले मुखि अमृत गुंण गाइ'[४]।

१- डा० रामकुमार वर्मा -- संत काव्य(निबन्ध), हिन्दी साहित्य-द्वितीय खण्ड, पृ०२१५
२- क०ग्रं०, पृ० ६८ , साखी३
३- ,, पृ० ६, साखी १६
४- ,, पृ०७, साखी ३१

परमात्मा को रिझाने में भक्त किस प्रकार के गुणों का गान करे, इस विषय में कबीर किसी प्रकार के प्रतिबन्ध को स्वीकार नहीं करते। जिसे जो गुण अच्छा लगे, उसे ही वह ग्रहण कर सकता है, क्योंकि मिठास सब में है--

'मीठो कहा जाहि जो भावै।
दास कबीर राम गुन गावै॥'[१]

विषय-विकारों में लीन रहने वाले व्यक्ति को हरि का गुण-गान कभी अच्छा नहीं लगता। कबीर का विश्वास है कि 'जो हरि भजन करने वाले हैं, वे विकारों का परित्याग कर देते हैं, क्योंकि उनमें भगवद्गुणों का उदय हो जाता है। ऐसे ही मनुष्य वास्तव में पवित्र होते हैं। कबीर उन लोगों को पवित्र नहीं मानते, जो 'छुआ-छूत' का विचार करते हैं[२]।'

कबीर की दृष्टि में वे व्यक्ति घृणित हैं, जो भगवान के गुण-गान को भूल गए हैं। ऐसे मनुष्यों को वे कमगादड़ सदृश बतलाते हैं[३]। साथ ही हरि-गुण -गान करने वाले को ही कबीर गुणी और पण्डित बतलाते हैं[४]।

नाम-स्मरण

कबीर सुमिरण सार है, और सकल जंजाल।
आदि अंत सब सोधिया, दूजा देखौं काल॥
(सुमिरन की अंग५)

हरि का नाम -स्मरण ही मोक्ष-तत्व है, इसके अतिरिक्त सब व्यर्थ है। जिसका मन इसमें लीन हो जाता है, वही आत्म-स्वरूप से परिचित हो जाता है। राम-नाम के कहने से भक्ति पुष्ट होती है और सहज ही में राम-नाम में

१- क०ग्रं० , पृ०१३५, साखी १४७
२- ,, पृ०१७३, साखी २५१
३- ,, पृ०२३, साखी २८
४- ,, पृ०१५१, साखी १८६

मन लीन हो जाता है[1]। राम-नाम ही भव-सागर से पार होने का जल-यान है।

कबीर हरि-नाम-स्मरण को ही मुक्ति बतलाते हैं[2]। जिसके द्वारा आवागमन से मुक्ति मिल सकती है[3]। कबीर कहते हैं कि गुरु से प्राप्त यह राम-नाम ही मेरा धन है। मैं इसे (अन्य सांसारिक धन की भांति) गांठ में बांधकर नहीं रखता और न इसे बेंचकर पेट भरता हूं। यह नाम ही मेरी खेती-बारी, धन-दौलत, संगी-साथी, माई-बाप सब कुछ है।

इहु धनु मेरे हरि के नाउ । गांठि न बाधउ बेचि न खाउ ।।
नाउ मेरे खेती नाउ मेरे बारी । भगति करउ जनु सरनि तुम्हारी ।।
नाउ मेरे माइआ नाउ मेरे पूंजी। तुमहि छ छोड़ि जानउ नहीं दूजी।।
नाउ मेरे बंधिप नाउ मेरे भाई । नाउ मेरे संगि अंति होइ सखाई ।।
माइआ महि जिसु रखै उदासु । कहि कबीर हउता को दासु ।।[4]

'राम' रस ही विश्व में अति मधुर रस है। इससे बढ़कर और कोई रस नहीं है।

इहिं बिधि चाखि सबै रस दीठा ।
रांम नांम सा और न मीठा ।।[5]

यह 'राम-नाम' 'अमृत सार' है, जिसका पान कर भक्त लोग भव-सागर तरते हैं। जिस प्रकार मृग वीणा के शब्द को सुनते ही बिंध जाता है और मर जाने पर भी उसका ध्यान नहीं टूटता, मछली निर्जीव हो जाने पर भी जल के प्रति अपने सहज स्वभाव को नहीं भूलती और जिस प्रकार कीट भृंगी में इतना लीन हो जाता है कि अन्त में वही बन जाता है, उसी प्रकार --

---

१- क०ग्रं०, पृ०२२७, पद ६-७
२- ,, पृ०५, पद ४
३- ,, पृ० १६६
४- संन्त कबीर, राग भैरउ १, पृ० २०६
५- कबीर ग्रन्थावली, पृ०८२

राम नाम निज अमृत सार ।
सुमिरि-सुमिरि जन उतरे पार[1] ।।

किन्तु सुमिरन भी यन्त्रवत् नहीं होना चाहिए । जीभ से यन्त्रवत् मंत्र दुहराने की पद्धति की कबीर ने तीव्र-भर्त्सना की है । जब तक चित्त का आराध्य के साथ पूर्ण तादात्म्य नहीं हो जाता तब तक हाथ में माला और मुख में जीभ घुमाते रहने से कोई लाभ नहीं ।

'माला तो कर में फिरै, जीभ फिरै मुख माहिं ।
मनुवां तो चहुं दिसि फिरै, यह तो सुमिरन नाहिं ।।

कहने के लिए तो कोई भी राम-नाम जप सकता है, किन्तु इसके मार्ग को जानने वाले विरले ही हैं --

'रांम नांम सब कोई बखांनै, रांम नांम का मरम न जानैं ।
कहै कबीर कछु कहत न आवै, परचै बिनां मरम को पावै[2] ।।

इसलिए 'राम नाम' के मर्म को समझ कर चित्त का आराध्य के साथ पूर्ण तादात्म्य स्थापित करके 'सुमिरन' करना चाहिए । जिस प्रकार जल में दूध और नमक मिलकर एक रूप हो जाते हैं, उसी प्रकार राम के साथ एकाकार हो जाना ही सच्चा सुमिरन है । इस सच्चे सुमिरन से ही मुक्ति संभव है--

'मुकति नहीं हरि नांव बिन, यों कह दास कबीर[3] ।'

इसके अतिरिक्त दूसरा कोई मार्ग नहीं है ।।

आत्म निवेदन

भक्ति के इस रूप में कबीर अपनी दुर्बलताओं को स्वीकार करते हुए दीन-हीन होकर सर्वस्व भगवदर्पण कर देते हैं । इस आत्मसमर्पण को पांच

१- कबीर ग्रन्थावली, पद ३६३
२- ,, ,, पृ०१६३
३- ,, ,, पृ० ३७

श्रेणियों में रखा जा सकता है । प्रथम अवस्था में भक्त विवशता का अनुभव करता हुआ भगवान् की शरण में जा पहुंचता है ।

कहै कबीर नहीं बस मेरा,
सुनिये देव मुरारी ।
इत मैभीत डरौं जम दुतनि,
आये सरनि तुम्हारी ।।[1]

दूसरी स्थिति में कबीर राम में अनन्याश्रय की भावना प्रकट करते हैं । उन्हें परमात्मा के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं दिखलाई पड़ता--

'तारण तिरण तिरवा तू तारण, और न दूजा जांनौं ।
कहै कबीर सरनाँई आयौं, जांन देव कहीं मांनौं ।।'[2]

तीसरी स्थिति में कबीर मोह-माया से छुटकारा प्राप्त कर भगवान् की शरण में पहुंचकर अपना सर्वस्व उन्हीं को समर्पित कर देते हैं ।

'मेरा मुझमैं कुछ नहीं, जो कुछ है सो तेरा ।
तेरा तुझको सौंपता', क्या लागै मेरा ।।'[3]

चौथी स्थिति में कबीर अपने ऊपर परमात्मा का पूर्ण अधिकार स्वीकार कर लेते हैं --

'मैं गुलांम मोहि बेचि गुसांई ।
तन मन धन मेरा रांम जी कै तांई ।।
आनि कबीरा हाटि उतारा ।
सोई गाहक सोई बेचनहारा ।।'[4]

१- कबीर ग्रन्थावली, पृ० १७६
२- ,, पृ० २०७
३- ,, पृ० १६
४- ,, पृ० १२४

अन्तिम स्थिति में कबीर विस्मय में पड़कर बहुत कुछ जानते हुए भी कुछ भी न जानने का अनुभव करते हैं--

'तेरी गति तुंही जानैं, कबीरा तो सरना[1]।'

दैन्य भाव-प्रदर्शन में कबीर गिड़गिड़ाते हुए स्वयं राम का कुत्ता बन बैठते हैं --

'कबीर कूता राम का, मुतिया मेरा नाउ ।
गले राम की जेवड़ी, जित खैंचै तित जाउ ।।'[2]

इस नवधा भक्ति के अतिरिक्त कबीर ने दशधा भक्ति की बात कही जो भाव-भक्ति है । भाव भक्ति ही उनका भक्ति का वास्तविक स्वरूप प्रस्तुत करता है ।

'भाव भगति विश्वास बिन, कटै न संसै मूल ।
कहै कबीर हरि भगति बिन, मुकति नहीं रे मूल[3] ।।'

इतना ही नहीं, कबीर ने तो यहाँ तक कह दिया है कि --

जब लग भाव भगति नहिं करिहौं, तब लग भव सागर बहु तिरिहौं[4]।

यह सूक्ष्म भाव-भक्ति हृदय से उद्भूत होती है, जिसका सम्बन्ध पूजा पाठादि बाह्याडम्बरों से न होकर मानसिक स्तर से होता है । कबीर ने निर्गुण भक्ति साधना पर ही अधिक बल दिया है , जो भाव-भक्ति द्वारा ही सम्भव है । क्योंकि वह परमतत्व 'अलख' है । उसे इन चर्म चक्षुओं से नहीं देखा जा सकता[5]।[6] वह तो हमारे हृदय में स्थित है । इस तत्व को भली भाँति समझकर ही 'भाव-भक्ति' की साधना में अग्रसर होना चाहिए । इस भाव-भक्ति की महिमा महान है, क्योंकि इसमें

१- कबीर ग्रन्थावली, पृ०१६२
२- ,, पृ०२०, पद १४
३- ,, -- बीपदा रमैणी, पृ०२४५
४- ,, -- बीपद रमैणी, पृ०२४२
५- सन्त कबीर, रागु विभास, प्रभाती ३
६- ,, रागु भैरउ, ७

भक्त भगवान् में मिलकर तद्रूप हो जाता है । इसलिए कबीर ने स्पष्ट कहा है कि बाह्याडम्बरों को छोड़कर भाव-भक्ति से ही भगवान् मिल सकता है ।

क्या जप तप क्या संजमा, क्या तीरथ व्रत असनान ।
जब लगि जुक्ति न जानिये, भाव भक्ति भगवान् ।।

अतः निष्कर्षरूप में यह कहा जा सकता है कि कबीर की भक्ति 'निर्गुण-भक्ति' थी । इसमें उन्होंने ब्रह्म को केवल रूप और गुणों में न बांध कर प्रतीकों के माध्यम से मानसिक धरातल पर लाने का प्रयत्न किया ।

प्रेम को प्रधान मानकर बाह्याडम्बर और कर्मकाण्ड का खण्डन किया ।

राजा, पिता, माता, पति आदि रूपकों के माध्यम से ब्रह्म के साथ सैक्ट्य स्थापित किया । वर्ग-भेद और जाति-भेद दूर कर विश्व-बन्धुत्व की स्थापना की । इसकी उत्पत्ति उनकी 'भाव-भक्ति' के माध्यम से ही समझी जा सकती है । सामाजिक अखण्डता एवं लोक-कल्याण को दृष्टि में रखते हुए उन्होंने अपनी भावनामयी भक्ति का प्रचार किया । इस दृष्टि से उनके द्वारा प्रवर्तित निर्गुण और निराकार भक्ति का बहुत बड़ा मूल्य है ।

गुरु नानक

कबीर की भाँति गुरु नानक ने भी निर्गुण निराकार ब्रह्म की भक्ति स्वीकार की। 'तू सदा सलामति निरंकार'[१] कहकर उन्होंने उसे आकार रहित बतलाया है। वह सत्य नाम वाला है,[२] निरंजन है[३] तथा सर्वव्यापी है, घट-घट में समाया हुआ है[४]। उसकी भक्ति से व्यक्ति इस भव-सागर से पार हो जाता है तथा जन्म-मरण के कष्ट से मुक्त हो जाता है;

'राम भगति गुरु सेवा तरणा, बाहुड़ि जनमु न होइहै मरणा[५]।'

उसे प्राप्त करना सहज कार्य नहीं। वह तीर्थ, व्रत, जप, तप तथा मूर्ति-पूजा आदि से नहीं प्राप्त किया जा सकता। वह तो अपने ही अन्दर स्थित है और अपने में ही उसे प्राप्त किया जा सकता है। अन्यत्र भटकने की आवश्यकता नहीं। तीर्थ, व्रत, शुचि, संयम तथा कर्म-धर्म त्याग कर 'भाव-भक्ति' से ही उसके समीप तक पहुँचा जा सकता है।

तीरथ बरत सुचि संजमु नाही, करमु धरमु नहीं पूजा।
नानक जाइ भगति निस्तारा, दुविधा विआपै दूजा॥[७]

कबीरदास की भाँति गुरु नानक ने भी वेद-पुराण, धार्मिक उपदेशों तथा तीर्थों को

१- नानकवाणी, पृ०८७
२- 'साचा साहिब साचु नाइ। भाखिआ भाउ अपारु'--नानकवाणी, पृ०८१
३- आपे आपि निरंजन सोइ-- नानकवाणी, पृ०८१
४- घटि घटि गहिर गंभीरु-- ,, पृ०१२१
५- नानकवाणी, पृ० २०६
६- ,, पृ० ८८
७- ,, पृ० १६६

व्यर्थ बतलाया है । जिस प्रकार अज्ञानतावश मृग,कुण्डल में स्थित कस्तूरी की खोज में वन-वन दौड़ता है,उसी प्रकार जीव मोह-माया में पड़कर अपने में ही स्थित ब्रह्म की खोज में बिना समझे बाहर भटकता है ।

जै कारणि तटि तीरथ जाहो, रतन पदारथ घट ही माहीं ।
पड़ि पड़ि पंडितु वादु वखाणै, भातरि होदी वसतु न जाणै ।।[1]

उपवास तथा जप-तप के द्वारा शरीर को गलाकर ईश्वर की प्राप्ति नहीं की जा सकती[2] । गुरु नानक ने मूर्तिपूजा को व्यर्थ बतलाया है । अंधे, गूंगे,मूढ़ और गंवार ही पत्थर की पूजा करते हैं । जब पत्थर स्वयं जल में डूब जाते हैं तो वे इस भव सागर से दूसरों को डूबने से कैसे बचा सकते हैं --

'अंधे गुंगे अंध अंधारु, पाथरु ले पूजहि मुगध गंवार ।
ओहि जा आपि डुबे, तुम कहा तरणहारु ।।'[3]

गुरु नानक ने इन आडम्बरों की अपेक्षा मन की पवित्रता को श्रेयस्कर कहा है । यदि मन में कल्मष भरा है तो पूजा-पाठ,धर्म-कर्म से कोई लाभ नहीं --

पूजि सिला तीरथ बनवासा, मरमत ढोलत भए उदासा ।
मनि मैले सुचा किउ होइ , साचि मिले पावै पति सोइ ।।[4]

मन चंचल है,उसे स्थिर करने के लिए इन्द्रिय निग्रह की आवश्यकता है । इन्द्रियों के बहिर्मुखी फैलाव के कारण मानव की आन्तरिक शक्ति का क्षय होता चलता है । यौन का फैलाव लज्जा-हीनता का द्योतक है । उदाहरण के लिए सूर्य का तेज किरणें सदैव फैला रहने के कारण किसी को जलाती नहीं,परन्तु

१-नानक वाणी,पृ०२०२
२- ,, पृ० ५०८
३- ,, पृ० ३३६
४- ,, पृ० ४१६

यदि उन्हीं किरणों का फैलाव रोककर आतशी-शीशे द्वारा कहीं केन्द्रित कर दिया जाय तो दूसरीओर फट से आग लग जाती है । ठीक वैसी ही इन्द्रियों की स्थिति है । इन्हें अन्तर्मुखी कर निरंकारी ज्योति पर केन्द्रित करने की आवश्यकता है । ऐसा करने से मन की चंचलता तो स्थिर होगी ही, साथ ही प्रभु-भक्ति का चिर प्रदीप्त ज्वाला[१] का वह प्रकाश भक्ति का पथ-प्रदर्शक बनेगा जो इन्द्रियों के बाहरी फैलाव के कारण मन्द पड़ता जा रहा था । तात्पर्य यह कि मन के अन्तर्मुखी विकास द्वारा उस निराकार ब्रह्म की प्राप्ति सम्भव है ।

नाम-स्मरण एवं गुण कीर्तन का महत्व

गुरु नानक के मतानुसार जीव के दुष्कर्मों का अन्त तथा उसमें सद्गुणों की उत्पत्ति केवल नाम-स्मरण एवं गुण-कीर्तन से ही होती है[२] । गुरु विचार से नाम-स्मरण ऊँची और सच्ची भक्ति है । नाम गुण-गान करने वाला, सत्पुरुष को सम्मुख पाता है[३] । बिना नाम-स्मरण के मन तृप्त नहीं होता --

कूड़ कमावै आवै जावै, कहनि कथनि वारा नहीं आवै ।
किआ ऐसा सूझ बूझ न पावै, बिन नावै मन तृपति न आवै ।।

(२:१४,आसा,पृ०२५२)

नाम की महत्ता को गुरु नानक ने जपुजी में, 'बिन्नु नावै नाही को थाउ' कहकर प्रकट किया है तथा --

'नउ निधि अमृत प्रभु का नामु, देहि पवहि एकका विश्रामु ।।'

(१:२३ पउड़ी,सुखमनी,म०५,पृ०२६३)

नाम-स्मरण के ही फलस्वरूप आत्मा अन्तर्यामी बनता है । जीवात्मा उस परम ज्योति का दर्शन करता है जो दशमद्वार के पार है । गुरु नानक का कथन है कि जिसने हरि-नाम-स्मरण किया उसने सुख प्राप्त किया, क्योंकि वह यम के तोरों से नहीं बींधा जा सकता --

---

१- अंतर मनि तिसै तू रख । देह निस दीवा बले अथक ।। 'गुरु नानक'
२- अहि निसि नाम जपहु रे प्राणी मैले कबे होहो ।३:१मलार म०१,पृ०१२५४
३- गावै को.... गावै को वैसे हाजरा हजूरि ।' पउड़ी३,जपुजी,पृ०२

'जिनि जपिया तिनही सुखु पाइया, हरि के नाम न होती जम पीड़ ॥'

(रामकली, ३०६०५)

प्रभु के नाम-स्मरण से ही जीव और गुरु का मिलन होगा तथा मुक्ति प्राप्त होगी।

नाइ मंनिऐ गुण अपने नाथै गति होइ।
नाइ मंनिऐ पति पाईऐ फिरदै हरि सोइ।
नाइ मंनिऐ भव जलु छंघीऐ फिर बिघनु न होई।
नाइ मंनिऐ पंथु परगटा नामें सुभ होई।
नानक सतिगुर मिलीऐ नाउ मंनिऐ जिन देवै सोई॥

६ सारंग की वार, म०१, ३०१२४१

इस प्रकार यह स्पष्ट परिलक्षित है कि गुरु नानक की भक्ति बहुत कुछ अंशों में कबीर की भक्ति से प्रभावित है।

दादू दयाल

'आपा मेटै हरि भजै, तन मन तजै विकार ।
निर्वैरी सब जीव सौं, दादू यह मत सार ।।'

अपने अहंकार को त्याग कर हरि का भजन करो, तन-मन के विकारों को त्याग दो और सब जीवों से मैत्री भाव रखो-- यही दादू के मत का सार है ।

दादू दयाल के 'राम' निरंजन[१], निराकार[२], निर्गुण[३] तथा घट-घट व्यापी हैं[४]। किन्तु इस रहस्य को न समझ पाने के कारण साधक इधर-उधर भटकता फिरता है ।

'जा कारणि जग ढूढ़िया,
सो तो घट ही माँहि[५]।
घट-घट रामहि रतन है,
दादू लखै न कोइ[६] ।
पढ़ि-पढ़ि थाके पंडिता,
किन हुं न पाया पार[७] ।।'

इसी प्रकार गोरख[८] और कबीर[९] की ही भाँति दादू दयाल ने

१-'दादू नमौं नमौं निरंजनं,नमस्कारं गुरु देवता' (दादू दयाल की बानी,भाग१,पृ०१)
२- दादू दयाल की बानी,पृ०१
३- ,, पृ० २४
४- ,, पृ० ७
५- ,, पृ० २४२
६- ,, पृ० ७
७- ,, पृ० ४३
८- मधि निरंतर कोजै बास -- गोरखबानी,पृ० ५१
९- मधि निरंतर बास -- कबीर ग्रन्थावली,पृ०५४

भी मध्यम मार्ग का गुण-गान किया है तथा उसे मुक्ति का द्वार कहा है --

मद्धि माह सेवै सदा, दादू मुकति दुवार ।
दादू जंह जंह है नहीं, मद्धि निरंतर बास ।।[१]

दादूदयाल की दृष्टि में ऊंच,नीच तथा मध्यम कोई नहीं है,क्योंकि 'राम' सब के भीतर समानरूप से विद्यमान हैं --

नीच ऊंच मद्धिम को नाहीं
देखो राम सबन के माहीं ।[२]

जब राम सबके भीतर स्थित हैं तो उनकी प्राप्ति के लिए मूर्ति-पूजा[३] की कोई आवश्यकता नहीं । माला,तिलक[४] ,जप-तप तथा तीर्थ-यात्रा[५] सब व्यर्थ है ।

कबीरदास की भाँति दादू के राम भी निर्गुण,निराकार हैं, अत: उनसे तादात्म्य स्थापित करने के लिए प्रतीकों का माध्यम ग्रहण करना पड़ा ।

पिता के रूप में ब्रह्म

बेमरजादा मिति नहीं, ऐसे किये अपार ।
मैं अपराधी बाप जो, मेरे तुम ही एक अधार ।।[६]

माता के रूप में ब्रह्म

जिनि छाड़ै राम जिनि छाड़ै, छमहि बिसारि जिनि छाड़ै ।
जीव जात न लागै बार, जिनि छाड़ै ।।
माता बधूं बारिक तज, सुत अपराधी होइ ।
कबहुं न छाड़ै जीव थैं, जिनि दुख पावै सोइ ।।

१-दादू दयाल की बानी,भाग१,पृ०१७०
२- ,, ,, पृ०१५६
३- ,, ,, पृ० १४७
४- ,, ,, पृ० १५५
५- ,, ,, पृ०१४४,१४६,१४८
६- ,, बिनती की अंग ७,पृ०२४६,बेलवेडियर प्रेस,प्रयाग

स्वामी के रूप में ब्रह्म

संत दादूदयाल ने संत-सुधासार में ब्रह्म को 'तू मेरा साहिब' कहकर अपने को सेवक बतलाया है[१]।

स्वामी दादूदयाल ने भक्ति-साधना के लिए 'आत्म-समर्पण' को महत्वपूर्ण बतलाया है। वे कहते हैं कि यह स्थूल शरीर, सूक्ष्म मन और प्राण सब कुछ मैंने प्रभु के चरणों में न्यौछावर कर दिया है।

तन भी तेरा, मन भी तेरा, तेरा प्यण्ड पराण।
सब कुछ तेरा, तू है मेरा, यह दादू का ज्ञान ॥[२]

यहाँ तक कि दादू के लिए उसका स्वामी ही भोजन और वस्त्र है, वही उसके सिर का ताज है और शरीर का प्राण है[३]। दादूदयाल जी कहते हैं कि हे प्रभु मैं सब कुछ समर्पित कर आपकी शरण में आ चुका हूं, इसलिए मुझे न छोड़ें।

तुम कूं हमसे बहुत है, हम कूं तुमसे नाहिं।
दादू कूं जिनि परिहरो, तू रहु नैननहुं माहिं[४]॥

भगवान और भक्ति दोनों की कोई सीमा नहीं है[५]। दादूदयाल जी[६] का कथन है कि तन-मन-प्राण समर्पित कर प्रभु प्राप्ति के लिए 'भाव-भक्ति' आवश्यक है। तात्पर्य यह कि भक्ति और भगवान् के बीच किसी प्रकार की द्वैत-भावना का अंश-मात्र भी शेष नहीं रहना चाहिए[६]। जिसप्रकार सुगंध पुष्प में एवं घृत तथा दूध में समाया रहता है, उसी प्रकार भाव-भक्ति द्वारा प्राणों को प्रियतम में समाहित कर देना चाहिए --

प्राण हमारा पीव सौं, यौं लागा रहिये।
पुहुप बास घृत दूध में, अब का सौं कहिये॥

१-संत सुधाकर, स्वामी दादूदयाल, पद ४६, ४७
२- दादू दयाल की बानी, भाग १-- सुन्दरी को अंग २३
३- ,, ,, -- अंसास को अंग ५, २१, २५, ४२, ४३, ५७
४- ,, ,, -- बिनती को अंग ५७, ७८, ७६।
५- ,, ,, -- परचा को अंग, २४४-२४८
६- ,, ,, -- परचा को अंग, २८०-२८२
७- ,, ,, -- परचा को अंग,

स्वामी दादूदयाल अपने इष्टदेव से यही याचना करते हैं--

साँई सत सन्तोष दे, भाव-भगति बेसास ।
सिदक सबूरी साच दे, माँगे दादू दास ।।

सुन्दरदास

'गुरु बिन ज्ञान नहिं, गुरु बिन ध्यान नहिं'[१]।

सुन्दरदास दादूदयाल के शिष्य थे । गुरु के प्रति इनकी अगाध भक्ति थी -- दादू दयाल उनके गुरू थे ।

सुन्दरदास कहैं कर जोरि जु,
दादू दयाल को हूं नित चेरो ।[२]

गुरु ही साधक को इष्टदेव का ज्ञान कराता है । इसलिए --

'गुरु की तो महिमा अधिक है गोविन्द ते'।[३]

उनका गोविन्द निर्गुण[४], निराकार तथा घट-घट व्यापी है[५]। वह मूर्ति पूजने तथा तीर्थ-व्रत करने से नहीं प्राप्त हो सकता है । वह तो अपने-आप में निराला है, जैसे को तैसा है --

जासौं कहूं सबमैं वह एक तौ, सो कहै कैसो है आंखि दिखइये ।
जौ कहूं रूप न देख तिसे कहु, तौ सब झुठ के मानै कहइये ।।
जौ कहूं सुन्दर नैननि मांकि तौ, नैनहूं बैन गये पुनि हइये ।।
क्या कहिये कहते न बनै कहु, जो कहिये कहते हीं लजइये ।।[६]

१- सुन्दर विलास, पृ० ६
२- ,, पृ०१
३- ,, पृ०६
४- ,, पृ०२५
५- ,, पृ०६८
६- संतकाव्य -- आचार्य परशुराम चतुर्वेदी, पृ० ३६०

तथा --

'एक कहूं तो अनेक सौ दीसत, एक अनेक नहीं कछु ऐसौ ।
'आदि कहूं तिहि अंतहू आवत, आदि न अंत न मध्य सु कैसौ ।।
गौपि कहूं तो अगौपि कहा यह, गौपि अगौपि न ऊभौ न बैसौ ।
जोइ कहूं सोइ है नहिं सुन्दर, है तौ सही परि जैसे को तैसौ ।।[१]

शुद्ध मन से प्रेमपूर्वक जो हरि का भजन करता है, उसी के ऊपर वे प्रसन्न होते हैं । प्रीति के बिना भक्ति उसी प्रकार स्वाद विहीन है, जिस प्रकार मुख के बिना अन्न ।

'प्रीति सहित जे हरि भजै, तब हरि होहि प्रसन्न ।
सुन्दर स्वाद न प्रीति बिन, मुख बिना ज्यौं अन्न ।'[२]

सुन्दरदास जी का कथन है कि बिना मानसिक-शुद्धि के मुक्ति सम्भव नहीं ।

'शुद्ध हृदय जाकौ भयौ, उहै कृतारथ जानि ।
सोई जीवनमुक्त है, सुन्दर कहत बखानि ।।'[३]

सुन्दरदास जी ने हरि-भक्ति के लिए 'नाम-स्मरण' को महत्व दिया है । यदि सच्चे भाव से नाम-स्मरण किया जाय तो हरि-दर्शन संभव है । वह मुख व्यर्थ है, जिससे हरि-नाम उच्चारण नहीं होता ।

'हरि नाम बिना मुख धूरि परै'[४]

इसके साथ ही साथ सच्ची भक्ति के लिए उन्होंने 'कामिनी-त्याग' आवश्यक बतलाया है । क्योंकि कामिनी भक्ति में बाधक होती है, इसलिए उसे निन्दनीय कहा गया --

'सुन्दर कहत नारी, नरक कौ कुंड यह । नरक में जाइ परै, सो नरक पावतो है।।
सुन्दर कहत नारी, नख सिख निन्दा रूप। ताहि जो सराहै सो तौ बड़ौ ही गंवार है ।'
(सुन्दर विलास, पृ०५१-५२)

१-आचार्य परशुराम चतुर्वेदी --सतकाव्य, पृ०३६१
२- ,, -- ,, पृ०३८८, साखी १
३- ,, -- ,, पृ०३८६, साखी १०
४- सुन्दरविलास, पृ०२५

इतना ही नहीं, उसे नागिन के सदृश विष वाली कहा है --'नागिनि सी नारी है'[1]।

स्वामी सुन्दरदास जी कहते हैं कि हरि-प्राप्ति के लिए 'अनन्य भक्ति' आवश्यक है। इसके लिए साधक को वैराग्य धारण करना चाहिए, जितेन्द्रिय होना चाहिए, माया-मोह से दूर रहना चाहिए, मानसिक पूजा का विधान करना चाहिए तथा दीन-भाव से प्रभु के चरणों में तन-मन से आत्म समर्पण कर देना चाहिए। भूलकर भी अन्य भाव मन में न लाना और अखण्ड-भाव से प्रभु की सेवा करना ही अनन्य भक्ति है[2]।

अन्त में सुन्दरदास जी 'प्रेमलक्षणाभक्ति' को सर्वश्रेष्ठ भक्ति बतलाते हैं। इस स्थिति में पहुंचकर प्रेमी घर-बार को सुध-बुध भूल जाता है। वह शरीर की बिना परवाह किये, इधर-उधर पागलों की भांति घूमता रहता है। उसके प्रत्येक रोम से प्रिय-विरहजन्य दीर्घ-उच्छ्वासें निकलने लगती हैं, अविरल अश्रुधारायें बहने लगती हैं। इस अनुपम रस में डूबकर वह 'नवधा भक्ति' को भूल जाता है। इस प्रेमा-भक्ति का रस-पान कर मतवाला हो उठता है --

'प्रेम लग्यो परमेश्वर सौं तब, भूलि गयौ सब ही घरबारा।
ज्यों उन्मत्त फिरै जित हीं जित, नैक रही न शरीर-सम्भारा।।
स्वांस उस्वास उठै सब रोम, चले दृग नीर अखण्डित धारा।
सुन्दर कौन करै नवधा-विधि, ह्वै छाकि पयौ रस पी मतवारा।।[3]

जिस प्रकार पपीहा स्वाति-बूंद के लिए, चकोर चन्द्र के लिए तथा सर्प चन्दन के लिए व्याकुल हो उठता है, ठीक उसी प्रकार प्रेमी-जन व्याकुल हो उठते हैं, परमेश्वर मिलन के लिए[4]। इस प्रेम-भक्ति में जो पड़ जाता है, उसे कुछ भी अच्छा नहीं लगता। यहां तक कि उसकी भूख-प्यास भी बन्द हो जाती है तथा निद्रा तक नहीं आती। वह सदैव प्रेम में उन्मत्त होकर जागता रहता है।

१- सुन्दरविलास, पृ०१४०
२- स्वामी सुन्दरदास-- संत सुधार, पृ०५८२-५८३
३- ' ,, ,, पृ० ५७७
४- ' ,, ,, पृ० ५७८

जिसके हृदय में प्रेम-भक्ति की ज्वाला फूट पड़ती है, वह सांसारिक कलुषता से बहुत दूर हो जाता है --

प्रेम-भक्ति यह मैं कही, जाने बिरला कोइ ।
हृदय कलुषता क्यों रहै, जा घट ऐसी होय ।।[१]

हृदय-कलुषता मिटने पर ही परमेश्वर के दर्शन सम्भव हैं ।

इस प्रकार कबीर, नानक, दादू तथा सुन्दरदास की भक्ति-साधना के अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि कबीर की विशेष आस्था आत्म-विश्वास में है तो नानक की आत्म-विकास में तथा दादू की आत्मोत्सर्ग में जिन्हें क्रमश: विचार-प्रधान, निष्ठा-प्रधान तथा प्रेम-प्रधान की संज्ञा से अभिहित किया जा सकता है । कबीर ने जहां विचार-स्वातन्त्र्य एवं अक्खड़ता को प्रश्रय दिया वहीं गुरु नानक ने समन्वय तथा रमता को तथा स्वामी दादू दयाल ने सद्भावना एवं सेवा को श्रेष्ठ बतलाया । साथ ही सुन्दरदास ने वीरता के साथ भक्ति का उपदेश दिया है । सच्चा साधक शूरवीर से भी बढ़कर है,क्योंकि वह दुष्ट मनोविकारों का संहार करता है[२] ।

अत: कबीर,नानक,दादू तथा सुन्दरदास की भांति ही अन्य परवर्ती सन्त कवियों-- चरनदास,गरीबदास,तुलसी साहब,जगजीवनदास, यारी साहब, दरिया साहब, गुलाल साहब, धूलनदास,सहजोबाई,दयाबाई तथा मलूकदास आदि ने भी भक्ति के क्षेत्र में निर्गुण,निराकार ब्रह्म को स्वीकार करते हुए पूर्ववर्ती सन्तों द्वारा निर्दिष्ट पथ का अनुसरण किया ।

१- स्वामी सुन्दरदास -- सन्त सुधार,पृ० ५७८
२- ,, -- ,, पृ० ६२५-६२६

(क) परम्परा एवं प्रयोग

प्राचीनकाल से ही अपने अपने जीवन को सुसंगठित एवं सुव्यवस्थित रखने के लिए समाज ने अपने अनुकूल कुछ मूलाधार सिद्धान्तों का सृजन किया । ये मूलाधार सिद्धान्त ही 'परम्परा' हैं । कालान्तर में चलकर देश,काल एवं परिस्थिति को दृष्टिकोण में रखते हुए इन मूलभूत सिद्धान्तों में कुछ संशोधन करना पड़ा, जिससे कुछ नवीनता आई । यह संशोधन अथवा नवीनता ही 'प्रयोग' कहलाया ।

प्राचीनकाल से ही भक्ति का प्रादुर्भाव आन्दोलन के रूप में हुआ । इष्टदेव के रूप में साकार ब्रह्म की उपासना की गई, जिसमें नवधा-भक्ति[१] को विशेष महत्व दिया गया । वैष्णवों की इस नवधा भक्ति श्रवण,कीर्तन,स्मरण, पादसेवन, अर्चन,वन्दन, दास्य,सख्य एवं आत्मनिवेदन के विविध रूपों में इष्टदेव के सम्मुख बैठकर उपासना की गई । यह नवधा भक्ति ही परम्परा है । कालान्तर में परम्परा से प्राप्त इस नवधा-भक्ति में देश-काल एवं परिस्थिति के अनुकूल कुछ संशोधन करना पड़ा । मध्य युग के आते-आते, भारतीय धर्म-साधना को जिस संगठित संप्रदाय से होड़ लेना पड़ा वह 'इस्लाम' था[२] । इस समय मुस्लिम आतंक इतना बढ़ा हुआ था, जिससे आतंकित होकर हिन्दू जनता में त्राहि-त्राहि मची हुई थी । बौखलाई हुई जनता किंकर्तव्यविमूढ़ होकर धर्म संकट में पड़ी थी । हिन्दू धर्म ही खतरे में पड़ गया था । मंदिर गिराये जा रहे थे । मूर्तियां तोड़ी जा रही थीं । स्वतन्त्रतापूर्वक उपासना का द्वार बन्द हो चुका था । ऐसी परिस्थिति में कबीर ने हिन्दू और मुसलमानों के बीच साम्प्रदायिकता दूर करने के लिए तथा हिन्दू धर्म को सुरक्षित रखने के लिए निर्गुण, निराकार ब्रह्म की उपासना प्रारम्भ की, जिसमें मंदिरों,मूर्तियों तथा तीर्थाटन की कोई आवश्यकता नहीं थी । तात्पर्य यह कि धर्म के नाम पर फैले हुए बाह्याडम्बर तथा कर्मकाण्ड से परिपूर्ण दम्भ का खण्डन किया गया तथा बाह्याडम्बर विहीन भक्ति के 'प्रेमतत्व' को ग्रहण कर 'रागानुगा-भक्ति' को महत्व दिया गया ।फलत:

१-'श्रवणं कीर्तनं विष्णो: स्मरणं पादसेवनम् ।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यं आत्मनिवेदनम् ।।(भागवत्७।५।५२)

२- डा० रामखेलावन पाण्डेय--'मध्यकालीन सन्त साहित्य', पृ०१४६ .

फलत: वैष्णवों की नवधा भक्ति के पाद सेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य एवं सख्य रूपों को अस्वीकार कर अपनी भक्ति में केवल श्रवण, कीर्तन, स्मरण और आत्मनिवेदन को ही स्थान दिया गया, जिनका सम्बन्ध 'मानसिक-भक्ति' से है।

फलत: कबीर ने परम्परा से प्राप्त नवधा भक्ति के प्रेमतत्व को ग्रहण कर निर्गुण, निराकार ब्रह्म की उपासना की जो मानसिक भक्ति से ही सम्भव हो सकी। परम्परा से प्राप्त भक्ति में यह नवीनता, यह संशोधन (मानसिक भक्ति से निर्गुण, निराकार ब्रह्म की उपासना) ही 'प्रयोग' है। जिसे रहस्यवाद की संज्ञा से अभिहित किया जा सकता है। इस रहस्यवाद पर कुछ विद्वानों के विचार निम्नलिखित हैं:-

डा० रामकुमार वर्मा के शब्दों में --'रहस्यवाद जीवात्मा की उस अन्तर्हित प्रवृत्ति का प्रकाशन है, जिससे यह दिव्य और अलौकिक शक्ति से अपना शान्त और निश्चल सम्बन्ध जोड़ना चाहती है, यह सम्बन्ध यहाँ तक बढ़ जाता है कि दोनों में कुछ भी अन्तर नहीं रह जाता। जीवात्मा की शक्तियाँ इसी शक्ति के अनन्त वैभव और प्रभाव से ओत-प्रोत हो जाती है। जीवन में केवल उसी दिव्य शक्ति का अनन्त तेज अन्तर्हित हो जाता है और जीवात्मा अपने अस्तित्व को एक प्रकार से भूल-सा जाती है। एक भावना, एक वासना हृदय में प्रभुत्व प्राप्त कर लेती है और वह भावना अदैव जीवन के अंग-प्रत्यंगों में प्रकाशित होती है। यही दिव्य संयोग है। आत्मा उस दिव्य शक्ति से इस प्रकार मिल जाती है कि आत्मा में परमात्मा के गुणों का प्रदर्शन होने लगता है और परमात्मा में आत्मा के गुणों का प्रदर्शन।'[१]

'ज्ञान के क्षेत्र में जिसे अद्वैतवाद कहते हैं, भावना के क्षेत्र में वही रहस्यवाद कहलाता है।' -- रामचन्द्र शुक्ल

'रहस्यवाद शब्द काव्य की एक धारा-विशेष को सूचित करता है। वह प्रधानत: उसमें लक्षित होने वाली उस अभिव्यक्ति की ओर संकेत करता है, जो वैयक्तिक चेतना का मूल स्रोत है और इसमें 'अहम्' एवं 'इदम्' की भावना का क्रमश: लोप हो जाता है।' -- परशुराम चतुर्वेदी

+-- यदि कहीं इनका रूप मिलता भी है तो केवल प्रतीकात्मक रूप में है।
१-- डा० रामकुमार वर्मा --'कबीर का रहस्यवाद', पृ०१५

इस प्रकार साहित्य-मनीषियों ने रहस्यवाद की अनेक परिभाषाएं दी हैं, जो एक ही मूल-बिन्दु पर पहुंचती हैं । कबीर का रहस्यवाद हिन्दुओं के अद्वैतवाद तथा मुसलमानों के सूफी-सिद्धान्तों से प्रभावित है ।

अद्वैतवाद ही रहस्यवाद का मूल है । उसमें आत्मा और परमात्मा-- दोनों का सत्ता अलग-अलग नहीं है,वरन् दोनों एक ही हैं । माया के कारण ही यह भ्रम उत्पन्न हो जाता है ।माया के नष्ट हो जाने पर दोनों का पुनः एकीकरण हो जाता है ।

'जल में कुंभ कुंभ में जल है,
बाहर भीतर पानी ।
फूटा कुंभ जल जलहि समाना,
यहु,तत कथौ गियानी ।।

जिस प्रकार जल में स्थित घड़े के भीतर का जल बाहर के जल से बिलकुल अभिन्न है, किन्तु मात्र घड़े की पतली चादर के कारण वह अलग-अलग दिखता है, घड़े के फूट जाने पर पुनः एक हो जाता है -- ठीक उसी प्रकार माया के कारण ही यह आत्मा और परमात्मा अलग-अलग दिखलाई पड़ते हैं । माया के नष्ट हो जाने पर दोनों का मिलन हो जाता है -- दोनों एकाकार हो जाते हैं ।

सूफी मत में प्रेम की प्रधानता है ।वह प्रेम भी सच्चा और निःस्वार्थ होना चाहिए । सूफी मत में परमात्मा को स्त्री रूप में स्वीकार किया गया है । भक्त,प्रेमी बनकर प्रियतमा की खोज में व्याकुल रहता है । वह प्रेम-रस-पान के नशे के खुमार में अपने शरीर की सुध-बुध खो बैठता है । कबीर ने कहा है --

'हरि रस पीया जानिये
कबहुं न जाय खुमार ।
मैं मंता घूमत फिरै,
नाहीं तन की सार ।।'

कबीर ने अपने रहस्यवाद में आत्मा को स्त्री मानकर परमात्मा को पति रूप में स्वीकार किया है । इस प्रेम के संयोग में जब तक पूर्णता नहीं आती, तब तक आत्मा विरहिणी बनकर परमात्मा के विरह में तड़पती है--

हरि मोर पीव माई, हरि मोर पीव,
हरि बिन रहि न सकै मोर जीव ।
हरि मोरा पीव मैं राम की बहुरिया,
राम बड़े मैं छुटक लहुरिया ।।

आत्मा और परमात्मा का प्रेम यहाँ तक बढ़ जाता है कि दोनों एकाकार हो जाते हैं, दोनों की सत्ता एक हो जाती है तथा एक के अस्तित्व से दूसरे का अस्तित्व सार्थक होता है --

'हरि मरि हैं तो हम हूं मरि हैं ।
हरि न मरै हम काहे को मरि हैं ।।

आत्मा और परमात्मा के मिलन का माध्यम प्रेम है । बिना प्रेम के मिलन सम्भव नहीं । प्रेम की पूर्णता तभी सम्भव हो सकती है, जब आत्मा और परमात्मा में पति-पत्नी का सम्बन्ध स्थापित हो जाय । इस प्रेम के द्वारा ही आत्मा,परमात्मा से मिलने में समर्थ हो सकती है । कबीर ने कहा है--

'लाली मेरे लाल की
जित देखौं तित लाल ।
लाली देखन मैं गई,
मैं भी हो गई लाल ।।'

कबीर की आत्मा प्रियतम के दर्शन के लिए व्याकुल हो उठी है । वह परमात्मा की याद हर सौ प्रकार से करता है । उसके विरह में तड़पती है तथा पुकार उठती है --

'वाल्हा आव हमारे गेह रे,
तुम बिन दुखिया देह रे ।
सब को कहे तुम्हारी नारी,
मोको इहे अंदेह रे ।
एकमेक ह्वै सेज न सोवै,
तब लग कैसा नेह रे ।

आन न भावै, नींद न आवै
गृह बन धरै न धीर रे ।
ज्यूं कामी को काम पियारा
ज्यूं प्यासे कूं नीर रे ।
है कोई ऐसा पर उपकारी,
हरि सूं कहै सुनाइ रे ।
ऐसे हाल कबीर भये हैं,
बिन देखे जिय जाय रे ।।

तथा --

वै दिन कब आवैंगे माइ ।
जा कारनि हम देह धरी है,
मिलिबौ अंग लगाइ ।
हौं जानूं जे हिल मिल खेलूं
तन,मन प्रान समाइ,
या कामना करौ परपूरन
समरथ हौ राम राइ ।

कबीर की आत्मा प्रियतम की विरह में जल रही है । वह जलते -जलते इतना जल चुकी है कि तप्त-सुवर्ण की भांति पवित्र हो उठी है । यद्यपि प्रारम्भ में आत्मा परमात्मा से भिन्न रहती है तथापि जैसे-जैसे वह पवित्र होने लगती है, वैसे-वैसे ईश्वरीय लक्षण उसमें प्रकट होने लगते हैं । जब आत्मा,परमात्मा के पास पहुंचती है तो स्वयं परमात्मा का रूप धारण कर लेती है ।ठीक यही दशा कबीर की हो चुकी है । उनकी आत्मा पवित्र होकर परमात्मा से मिल चुकी है -- ऐसी ही स्थिति में कबीर ने कहा है --

दुलहिनी गावहु मंगलाचार,
हम घरि आए हो राजा राम भतार ।

तन रत करि मैं मन रति करि हुं,
पंच तत बराती ।
राम देव मोरै पाहुने आए
मैं जोबन मैं माती ।

-o-